

न्यायालय में लंबित पड़े मामलों का प्रबंधन

साभार: इंडियन एक्सप्रेस
(16 नवंबर, 2017)

बिबेक देबरॉय
(प्रधानमंत्री के आर्थिक सलाहकार परिषद के अध्यक्ष)

यह आलेख सामान्य अध्ययन प्रश्न पत्र-II (शासन व्यवस्था) से संबंधित है।

अधीनस्थ अदालतों में ड्राफ्ट नियम या तो स्वीकार नहीं किए गए हैं या सही संदर्भ में लागू नहीं किए गए हैं।

ज्यादातर लोग विधि केंद्र द्वारा कानूनी नीति के लिए किए गए कार्य के बारे में जानते हैं। जिनमें से कुछ न्यायिक विलंब को कम करने पर कार्य कर रहे हैं। इस समस्या के सन्दर्भ में कुछ आंकड़े हमारे सामने मौजूद हैं, जो इस समस्या की गंभीरता को दर्शाते हैं, जैसे अधीनस्थ अदालतों में पच्चीस मिलियन मामले लंबित पड़े हैं, जिसमें से 6 मिलियन सिर्फ पिछले पांच साल के हैं। बेशक, उच्च न्यायालयों और सुप्रीम कोर्ट में भी काफी मामले लंबित पड़े हुए हैं, लेकिन अब हमे अधीनस्थ न्यायालयों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

कई अर्थशास्त्री विकास के व्यापक और गहन तरीकों की बात करते हैं। पूर्व में, इनपुट (भूमि, श्रम, पूंजी) में वृद्धि से विकास के परिणाम प्राप्त होते थे। उत्तरार्द्ध के अंतर्गत विद्यमान इनपुट की उत्पादकता बढ़ाने से वृद्धि के परिणाम प्राप्त होते हैं। अदालतों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए, न्यायाधीशों की संख्या में भी वृद्धि होनी चाहिए, लेकिन एक गहन तकनीक के साथ। मौजूदा अदालत के बुनियादी ढांचे और मानव संसाधनों की उत्पादकता में वृद्धि। ऐसा करने से पहले और स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से सुधार करने में, मुझे (लेखक) नहीं लगता कि व्यापक मोड़ के लिए जरूरी अधिक सार्वजनिक संसाधनों के लिए सामान्य समर्थन होगा। विभिन्न शब्दों का उपयोग करना, उत्पादकता में वृद्धि मामलों को अधिक कुशलता से निपटाना है, अर्थात् केस प्रवाह प्रबंधन (सीएफएम)।

असल में बार और बेंच न्यायिक प्रक्रिया के मूल आधार हैं। मुकदमों के अंबार लगने की पीछे बड़ी वजह है, धीमी सुनवाई। स्थिति यह है कि दीवानी का मामला हो या फौजदारी का, मुंसिफ कोर्ट में मुकदमे पच्चीस-तीस साल तक चलते रहते हैं। वहां से फैसला हुआ तो सत्र न्यायालयों में बीस-पच्चीस साल लग जाता है। वहां से उच्च न्यायालय में स्थगनादेश आदि मिलने पर दस-पांच साल और निकल जाते हैं। स्थिति लगातार भयावह होती जाती है। जिस मात्रा में मुकदमे दायर होते हैं, उस अनुपात में निपटारा नहीं होता। जिला स्तर पर अधिवक्ताओं की हीला-हवाली और आए दिन हड़तालों की वजह से भी मामले लटकते रहते हैं। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय कई बार समयबद्ध सुनवाई करने का आदेश देती भी हैं, लेकिन जजों की कमी भी सुनवाई को प्रभावित करती है।

2005 में सलेम एडवोकेट्स बार एसोसिएशन बनाम यूनिन ऑफ इंडिया में सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि यह मामला सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधन है: इस प्रयोजन के लिए, इस समिति के एक पूर्व न्यायाधीश और भारतीय कानून आयोग के अध्यक्ष (न्यायमूर्ति एम जगन्नाथ राव) की अध्यक्षता वाली समिति का गठन किया गया, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि संशोधन प्रभावी हो और परिणामस्वरूप न्याय की त्वरित व्यवस्था हुई। साथ ही यह भी ध्यान दिया गया कि समिति एक मॉडल केस मैनेजमेंट फॉर्मूला के साथ-साथ नियमों और विनियमों को तैयार करने पर विचार कर सकती है, जिसे वैकल्पिक विवाद समाधान का सहारा लेते समय का पालन किया जाना चाहिए।

अधिक उद्धृत करने के लिए, रिपोर्ट 3 (समिति द्वारा) में केस प्रबंधन का वैचारिक मूल्यांकन होता है। इसमें केस प्रबंधन के मॉडल नियम भी शामिल हैं। मामला प्रबंधन नीति मामलों के अधिक निपटान को प्राप्त करने में उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त कर सकती है। इसका जनादेश न्यायालय के एक अधिकारी या किसी समय-सारिणी को स्थापित करने के लिए होता है और यह एक मामले को इसकी शुरुआत से ही उसके निपटान तक नजर रखता है। अन्य देशों में किए गए प्रगति के सर्वेक्षण पर समिति ने निष्कर्ष निकाला है कि मामलों के प्रबंधन प्रणाली ने बहुत अच्छे परिणाम दिए हैं। मॉडल केस फ्लो मैनेजमेंट नियमों को अलग-अलग परीक्षण अदालतों और प्रथम अपीलीय अधीनस्थ न्यायालयों और उच्च न्यायालयों के लिए निपटारा गया है। ये मसौदा नियम मुकदमेबाजी के विभिन्न चरणों से बड़े पैमाने पर निपटते हैं। उच्च न्यायालय इन नियमों की जांच कर सकते हैं, मामले की चर्चा कर सकते हैं और अपनाने के सवाल पर विचार कर सकते हैं या मुकदमा कानून प्रबंधन और मॉडल नियम बना सकते हैं, ताकि जनता को निष्पक्ष, त्वरित और आसानी से न्याय प्रदान करने के लिए एक कदम आगे बढ़ाया जा सके।

हालांकि ये मसौदे के नियम थे और उन्हें अपनाने का निर्णय हाई कोर्ट में छोड़ दिया गया था। जाहिर है, सभी उच्च न्यायालयों ने ऐसा नहीं सोचा था। उच्च न्यायालयों के लिए अलग सीएफएम नियमों, अधीनस्थ अदालतों में सिविल मामलों और अधीनस्थ अदालतों में आपराधिक मामले हैं। विधि के समन्वयन से पता चलता है कि दिल्ली, महाराष्ट्र, गोवा, मणिपुर, मेघालय, ओडिशा और यूपी में तीनों गायब हैं। ऐसे कई राज्य हैं, जिसके लिए अधीनस्थ अदालतों के लिए केवल नागरिक सीएफएम नियमों को पारित किया गया है।

सुप्रीम कोर्ट के तत्वावधान में, न्यायमूर्ति माणिकराव खानविलकर द्वारा 2012 की एक रिपोर्ट (प्रकृति में विशुद्ध रूप से सलाह) भी है, सीएफएम पर राष्ट्रीय सामान्य मानकों को निर्धारित करना, जिसे सभी उच्च न्यायालयों में लागू किया जा सकता है। लेकिन यह विशुद्ध रूप से सलाह है, जिसपर कुछ भी नहीं हो सकता है। इसलिए, क्या सीएफएम को वैधानिक समर्थन मिलना चाहिए? यह प्रश्न थोड़ा गुमराह करने वाला है, क्योंकि सीपीएम के कुछ तत्व अनिवार्य हैं, सीपीसी और सीआरपीसी के संशोधन के बाद।

इसका एक अर्थ क्या है: क्या सीएफएम को बोर्ड को वैधानिक समर्थन मिलना चाहिए? अधिकांश लोग हां कहते हैं, लेकिन किसी को भी नहीं ले जाना चाहिए। एक कानून इसके कार्यान्वयन के समान है। उच्च न्यायालयों ने सीएफएम नियमों को पारित करते समय, विधि के शोध (आठ राज्यों में) से पता चलता है कि ये न्याय हैं, वास्तव में नहीं। हमारे अध्ययन से एक मुख्य तथ्य यह है कि न्यायालय

सीएफएम नियमों द्वारा अनुशंसित समय सीमा का पालन करने में अक्षम या अनिच्छुक है, इस तथ्य के बावजूद कि उच्च न्यायालयों द्वारा पारित किए गए नियम अधीनस्थ अदालतों पर बाध्य हैं। यह स्थिति दो कारणों से हो सकती है: पहला, न्यायालयों को थोड़ा सा ज्ञान या सीएफएम को लागू करने में उनकी अदालतों को बेहतर ढंग से व्यवस्थित करने के लिए होगा और दूसरा, कानून आयोग द्वारा अनुशंसित समय सीमाएं राज्यों द्वारा बिना प्रासंगिक संदर्भ के अपनाई गईं। मुझे (लेखक) यह संदेह है कि यहाँ पहला कारण ज्यादा प्रासंगिक है, दूसरा नहीं।

संबंधित तथ्य

न्यायिक समीक्षा

विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों के व्यापक अधिकार क्षेत्र के साथ भारत की एक स्वतंत्र न्यायपालिका है। न्यायिक समीक्षा को सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके तहत न्यायपालिका द्वारा विधायी और कार्यपालिका के कार्यों की समीक्षा की जाती है। इसे आम तौर पर स्वतंत्र न्यायपालिका की बुनियादी संरचना के रूप में जाना जाता है (इंदिरा गांधी बनाम राजनारायण मामले)।

विधायी कार्यों की न्यायिक समीक्षा का अर्थ वह शक्ति है जो विधायिका द्वारा पारित कानून को संविधान में निहित प्रावधानों और विशेषकर संविधान के भाग 3 (पढ़ने का सिद्धांत) के अनुसार सुनिश्चित करती है। निर्णयों की न्यायिक समीक्षा के मामले में, उदाहरण के लिए जब एक कानून को इस आधार पर चुनौती दी गयी है कि इसे बगैर किसी प्राधिकरण या अधिकार से विधायिका द्वारा पारित किया गया है, विधायिका द्वारा पारित किया गया कानून वैध है या नहीं, इसके बारे में फैसला लेने का अधिकार अदालत के पास होता है। इसके अलावा हमारे देश में किसी भी विधायिका के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वे अदालतों द्वारा दिए गए निर्णय की अवज्ञा या उपेक्षा कर सकें।

अदालतों के पास न्यायिक समीक्षा की व्यापक शक्तियां हैं, इन शक्तियों का बड़ी सावधानी और नियंत्रण के साथ प्रयोग किया जाता है। इन शक्तियों की निम्न सीमाएं हैं:

- इसके पास केवल निर्णय तक पहुँचने में प्रक्रिया का सही ढंग से पालन किया गया है कि नहीं, तक ही अनुमति होती है लेकिन स्वयं निर्णय लेने की अनुमति नहीं होती है।
- इसे केवल हमारे सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय जैसी अदालतों को सौंपा जाता है।
- जब तक बिल्कुल जरूरी ना हो तब तक नीतिगत मामलों और राजनीतिक सवालों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।
- एक बार कानून के पारित होने पर यह स्थिति बदलने के साथ असंवैधानिक हो सकता है, यह शायद कानून प्रणाली में खालीपन पैदा कर सकती है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि अदालत द्वारा दिए गये निर्देश तभी बाध्यकारी होंगे जब तक कानून अधिनियमित नहीं हो जाते हैं, अर्थात् यह प्राकृतिक रूप से अस्थायी है।
- एक कानून की व्याख्या और उसे अमान्य कर सकता है लेकिन खुद कानून नहीं बना सकता है।

न्यायिक सक्रियता

इसे न्यायिक निर्णय लेने के एक ऐसे दर्शन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जहां न्यायाधीश संविधानवाद की बजाय सार्वजनिक नीति के बारे में अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट करते हैं। भारत में सक्रियता से कुछ मामलों इस प्रकार हैं:

- गोलकनाथ मामले में जहां सुप्रीम कोर्ट ने यह घोषणा की थी कि भाग 3 में निहित मौलिक अधिकार अपरिवर्तनीय हैं और उन्हें सुधारा नहीं जा सकता है।
- केशवानंद भारती मामले में जहां सुप्रीम कोर्ट ने बुनियादी संरचना का सिद्धांत पेश किया, यानी संसद के पास संविधान के मूल ढांचे में फेरबदल किए बिना संशोधन करने की शक्ति है।
- सुप्रीम कोर्ट ने 2 जी घोटाले की सीबीआई जांच में एक पर्यवेक्षी भूमिका निभायी है।
- हसन अली खान के खिलाफ आतंकी कानूनों को लागू करने में। इसके अलावा, न्यायिक सक्रियता की अवधारणा को भी कुछ आलोचनाओं का भी सामना करना पड़ा था। सबसे पहले, अक्सर यह कहा जाता है कि सक्रियता के नाम पर न्यायपालिका अक्सर व्यक्तिगत राय का पुनर्लेखन करती है। दूसरा, शक्तियों के विभाजन के सिद्धांत पराभूत होना है। हालांकि, इसके महत्व को इस प्रकार समझा जा सकता है कि यह पीड़ित व्यक्तियों के लिए आशा की एक जगह वाली संस्था है।

समीक्षा और सक्रियता के बीच केवल अलगाव की एक पतली रेखा है। न्यायिक समीक्षा का अर्थ कानून/अधिनियम के संविधान के अनुरूप होने के बारे में निर्णय करना है। वहीं दूसरी ओर न्यायिक सक्रियता का संबंध न्यायाधीश की एक व्यवहारिक अवधारणा से है। यह मुख्य रूप से सार्वजनिक हित, मामलों के शीघ्र निपटान आदि पर आधारित है।

न्यायिक समीक्षा की शक्ति के साथ, अदालतें मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रूप में कार्य करती हैं। इस प्रकार, न्यायिक समीक्षा की शक्ति को भारत के बुनियादी संविधान के भाग के रूप में मान्यता प्राप्त है।

न्यायिक सक्रियता, लोकतंत्र को और भी मजबूत बनाने में मदद करती है। इसकी अनुपस्थिति में लोकतंत्र सच्चे मायने में लोकतंत्र नहीं होता है। इसके अलावा, न्यायिक सक्रियता लोकतंत्र के आदर्शों पर ध्यान में रखती है, असल में मुखर और प्रभावशाली आवाजों से अनसुनी आवाजों को दफन होने से बचाना सुनिश्चित करना वास्तव में आवश्यक है।

संभावित प्रश्न

भारत में न्यायालयों के विभिन्न स्तरों पर लाखों मामले लंबित पड़े हैं एवं उनकी संख्या लगातार बढ़ती ही जा रही है। इस समस्या के निदान के लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाया जाना अपेक्षित है? चर्चा कीजिये। (200 शब्द)

In India, millions of cases are pending at various levels of courts and their number is increasing steadily. What is the expected steps taken by the government to diagnose this problem? Discuss. (200 words)